बीरेन्द्र सिंह रावत

लोकतंत्र और भाषा शिक्षण : कुछ अन्तर्संबंध

शिक्षा संबंधी बहसों में अक्सर इतिहास, राजनीति विज्ञान एवं समाज विज्ञान के संदर्भ में चर्चा होती है और वह भी पाठ्यपुस्तकों पर केन्द्रित कि इन विषयों के शिक्षण के लिए निर्मित पाठ्यपुस्तकें राजनीति, दलगत राजनीति, से प्रेरित हैं। लेकिन भाषा शिक्षण के संदर्भ में राजनीति के सवाल पर अक्सर चुप्पी नजर आती है। यह मान लिया जाता है कि भाषा शिक्षण में क्या राजनीति होगी! इसलिए भाषा शिक्षण के नजरिए और विषयवस्तु को राजनीति से जोड़कर देखने के प्रयास भी कम ही हुए हैं। मुझे लगता है कि भाषा के शिक्षण को भी राजनैतिक व्यवस्था के संदर्भ में समझा जाना अपेक्षित है। यदि तर्कतः समझने की कोशिश करें तो, यदि भाषा का शिक्षण शिक्षा व्यवस्था का अंग है और शिक्षा व्यवस्था राज्य की राजनैतिक सोच का अंग है तो लाजमी तौर पर भाषा के शिक्षण को भी राजनैतिक सोच से संबद्ध होना चाहिए अर्थात्, इस नजरिए के अनुसार, किसी भाषा 'क' का शिक्षण तानाशाही राज्य तथा लोकतांत्रिक राज्य में भिन्न होना अपेक्षित है। उदाहरण के लिए, किसी ऐसे देश पर विचार करें जहां किसी धर्म के आधार पर राजनैतिक व्यवस्था की रचना की गई हो। ऐसे देश के स्कूलों में भाषा की पढाई से मुख्यतः दो उम्मीदें की जा सकती हैं। पहली यह कि भाषा की पढाई के नाम पर उस धर्म की मान्यताएं बताई जाएं पर उनका विश्लेषण नहीं किया जाए। यानी, उस धर्म की मान्यताओं को आलोचनात्मक चिन्तन के दायरे में लाए बिना उन पर विश्वास करना सिखाया जाए। दूसरी उम्मीद यह की जा सकती है कि उस धर्म को संदेह के घेरे में लाने वाली बातें भाषा की पढाई का हिस्सा ही न बनें। इन दोनों ही

लेखक परिचय

फील्ड-वर्कस, शिक्षाशास्त्र विभाग
दिल्ली-विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

उम्मीदों का शिक्षणशास्त्रीय पहलू यह है कि शिक्षार्थी भाषा का उपयोग याद करने तथा याद किए को व्यक्त करने तक सीमित रखें। ऐसा इसलिए क्योंकि ऐसे देश में माना जाएगा कि पाठों में बताई गई बातें अनिवार्य हैं और इस कारण वे पुनर्विचार से परे हैं। इसके विकल्प में लोकतंत्र को चाहने वाले देश में दी गई बातों को याद करने से आगे बढ़कर उन्हें संदर्भ के साथ समझने और जोड़कर देखने की होगी।

आमतौर पर स्कूलों में ऐसी पद्धतियां अपनाई जाती हैं जो चिन्तन को हतोत्साहित करती हैं या जिनसे चिन्तन हतोत्साहित हो जाता है। उनमें से एक पद्धति है तथ्यों और सूचनाओं को अधिक महत्त्व देते हुए उनके रटने पर जोर देना। यह इस खतरनाक अंधविश्वास पर टिका है कि अधिक तथ्यों के मालूमात होने से ज्ञान हो जाता है। अनेक छितरे और असंबद्ध तथ्यों को शिक्षार्थियों के दिमाग में इकट्ठा कर लेने भर से मान लिया जाता है कि उसे अमुक विषय का ज्ञान हो गया है। बच्चों का समय और शक्ति तथ्यों को रटने में ही चुक जाती है। उनके पास सोचने के लिए बहुत कम समय और ऊर्जा बचती है। निश्चित तौर पर तथ्य रहित चिन्तन काल्पनिक होता है, लेकिन सूचना चिन्तन की राह में उतनी ही बाधक होती है जितना इसका अभाव (फ्रॉम, 2001, पृष्ठ 214)। हिन्दी की पाठ्यपुस्तकों के एक विश्लेषण में यह पाया गया कि पाठ के अन्त में पूछे गए सवालों में से 87.2 प्रतिशत प्रश्न सूचनात्मक हैं जो शिक्षार्थियों से चिन्तन के अवसर छीन लेते हैं (रावत, 2006)। ऐसी चिन्तन रहित स्थिति लोकतंत्र विरोधी ताकतों के पक्ष में होती है (फ्रॉम, 2001, पृष्ठ 207)।

लोकतंत्र एक संवाद है। विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि स्थितियों में संवाद। स्थितियों के प्रति बदलती समझ संवाद को गति देती है। अलग-अलग स्थितियों के बीच पनपने वाले सूत्र संवाद को ऊर्जा प्रदान करते हैं। ऐसी स्थिति को ध्यान में रखकर चलने वाली शैक्षिक प्रक्रिया शिक्षार्थियों के बीच संवाद को जन्म देती है। ऐसी प्रक्रिया में शिक्षक तथा शिक्षार्थी के बीच संवाद के पनपने की गुंजाइश होती है। संवाद के लिए अनिवार्य शर्त है कि बात के संदर्भों को केंद्र में रखा जाए। भाषा के संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण विचार शब्द के अर्थ को संदर्भाधारित मानता है। उदाहरण के लिए, इस वाक्य पर विचार करें- ''खुशकिस्मती से हाथी ज्यादा दूर तक तेज नहीं चल सकते।'' जब तक संदर्भ न पता हो तब तक इस वाक्य का अर्थ निकालना मुश्किल है। अगर उपरोक्त वाक्य से पहले कहा जाए- "हाथी के बच्चे बड़ों के साथ चलने का भरसक प्रयास कर रहे हैं", तभी पहले वाक्य का अर्थ स्पष्ट होगा। लेकिन यदि बात यह हो कि- "एक हाथी के पीछे बीस चोर पड़े हैं। खुशकिस्मती से हाथी ज्यादा दूर तक तेज नहीं चल सकते", तो अर्थ में परिवर्तन आ जाएगा। क्योंकि संदर्भ बदल गया है। इसलिए, अर्थ तक पहुंचने के लिए संदर्भ पर विचार करना आवश्यक है।

लेकिन भाषा के शिक्षण को कुशलताओं में दक्ष करने का पर्याय इस कदर बना दिया गया है कि इसका लोकतंत्र जैसी अवधारणाओं के साथ सकारात्मक रिश्ता तलाशना अत्यंत जटिल काम हो गया है। भाषा शिक्षण को भाषिक कुशलताओं के अभ्यास की प्रक्रिया मानने की जड़ें अत्यंत गहरी हैं। भाषा सिखाने हेतु तैयार पुस्तकों का उपयोग, पुस्तकों के पाठों में दर्ज सूचनाओं को याद करवाया जाना ही भाषा शिक्षण का काम मान लिया गया। इस तरह के शिक्षण के प्रभाव में आए बच्चों की पाठ के संदर्भ में समझ का पूर्वानुमान लगाना सरल है। प्रभावित होने वालों के व्यवहार का पूर्वानुमान लगा लेना बताता है कि शिक्षण की प्रक्रिया लोकतांत्रिक आधारों पर नहीं चली है। इस प्रकार के शिक्षण में अनुभवों के द्वारा कुछ भी जोड़ा या घटाया नहीं जा सकता। ऐसा शिक्षण अधिनायकवादी विचार पर टिके राष्ट्र के लिए तो अनुकूल हो सकता है लेकिन लोकतंत्र को अपनी तमाम गतिविधियों का संदर्भ घोषित करने वाले राष्ट्र के लिए भाषा शिक्षण की प्रक्रिया का ऐसा परिप्रेक्ष्य अप्रसांगिक है। यह एक प्रकार का मतारोपण है जिसके जरिए सीखने वाले में ऐसे विश्वास और अभिवृत्तियां उत्पन्न करनी होती हैं जिन्हें अनुभव बदल न सकें। यानी, विश्वासों का अनुभव से रिश्ता काट देना ही मतारोपण है। अगर देश में चुनावों का फैसला किन्हीं पूर्वनिर्धारित बातों के आधार पर होने लगे तो यह चुनाव जैसी लोकतांत्रिक प्रक्रिया में लोकतंत्र की अनुपस्थिति का सूचक होगा। लोकतंत्र में घटनाओं को देखने का नजरिया अनेक बातों पर निर्भर करता है। क्योंकि लोकतंत्र में घटनाएं संदर्भगत होती हैं, पूर्वनिर्धारित कोटियों में निश्चित नहीं होतीं। अगर हम यह जानते हैं कि बच्चे किसी पाठ के बारे में क्या राय रखते हैं और परीक्षा के पहले से उसका पता होना उस राय की पुनर्प्रस्तुति है तो हमारा शिक्षण तथा उसकी परीक्षा लोकतांत्रिक नहीं है। उदाहरण के लिए, किसी कथा में व्यक्त मूल संवेदना को यदि लेखक की नजर से समझना ही कथा पढ़ाने का उद्देश्य है तो यह कथा को पढ़ाने का गैर-लोकतांत्रिक उद्देश्य है। ऐसा मानने के तीन कारण हैं। पहला, इसमें समझ में परिवर्तन की जगह नहीं है। अर्थात् जो लेखक की समझ है वही अन्तिम होगी और उस पर व्यक्ति को अपने अनुभवों के आधार पर सोचने और नतीजे निकालने का अवसर नहीं होगा। प्रमाणिक राय के तौर पर लेखक पर ही अन्तिम तौर पर भरोसा

किया जाएगा। दूसरा, इसमें भिन्न पृष्ठभूमियों से आने वाले बच्चों का कोई अर्थ नहीं है। इसके मायने हैं कि यदि बच्चे विभिन्न पृष्ठभूमियों से आते हैं और और उनका अनुभव संसार अलग है तो वे अपने अनुभव संसार के साथ जोड़कर ही उस कहानी को ग्रहण करने का प्रयास करेंगे। यदि लेखक की नजर से ही कथा को पढ़ाना है तो फिर बच्चों के विविध अनुभव को शिक्षक किसी भी तरह का उपयोग नहीं कर सकता। तीसरा, इसमें पूर्वनिर्धारित समझ का आरोपण मात्र हो रहा है। किसी पाठ को लेखक की ही नजर से देखना तथा विधानसभा में प्रस्तुत किसी विधेयक को शासन करने वाली पार्टी की नजर से देखने में क्या अन्तर है ? दोनों ही नजारे गैर-लोकतांत्रिक हैं।

भारत में शिक्षा के उद्देश्यों के संदर्भ, भारत के संविधान में वर्णित मूल्य हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 (अनुच्छेद 3.1) कहती है कि शिक्षा की राष्ट्रीय प्रणाली उन सिद्धांतों पर टिकी होगी जो संविधान में दर्ज हैं। सामाजिक न्याय एक ऐसा विचार है जिसके आधार पर देश में जीने का विचार संविधान में अंगीकार किया गया है। सामाजिक न्याय का विचार इस तथ्य की स्वीकृति पर टिका हुआ है कि सामाजिक तौर पर अनेक प्रकार के अन्यायों का सृजन किया जाता है। इन अन्यायों से मुक्ति सामाजिक न्याय का लक्ष्य है। "भारतीय संदर्भ में मुक्ति, जाति, लिंग, कर्म, क्षेत्र, भाषा आदि के पूर्वाग्रहों से। मुक्ति अंधविश्वासों से, निराधार भयों से।" (राममूर्ति समिति, 1990, पृष्ठ 19-20)। यदि शिक्षा को सामाजिक न्याय का दायरा बढ़ाने तथा सामाजिक अन्यायों का दायरा सिकोड़ने वाली प्रक्रिया माना जा रहा है तो ऐसे में यह जरूरी हो जाता है कि शिक्षा प्रक्रिया के तमाम तत्व ऐसा करने में मददगार हों। शिक्षा के माध्यम से शिक्षार्थियों में जिन मूल्यों का बीजारोपण किया जाता है वे सामाजिक न्याय को घटा या बढ़ा सकते हैं। सामाजिक न्याय को बढ़ाने के लिए भाषा के उन पक्षों पर विशेष ध्यान देना होगा जो अन्यायपूर्ण स्थितियों को समझने तथा बेहतर स्थितियों के विकल्प गढ़ने में मदद करें। भाषा के जरिए चिन्तन के तरीकों को विकसित करना ऐसा पक्ष है जो इस भूमिका को निभा सकता है। लोकतांत्रिक मूल्यों को ध्यान में रखते हुए भाषा के शिक्षण में चिन्तन को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाना चाहिए। प्रारंभिक कक्षाओं में बातचीत के द्वारा चिन्तन को पैना किया जा सकता है। इन कक्षाओं में बातचीत को महत्त्व दिए जाने के दो कारण प्रमुख हैं। पहला, इन कक्षाओं में लिखने की कुशलता का विकास नहीं या कम हुआ होता है तथा दूसरा बातचीत में शिक्षार्थियों से प्रति-प्रश्न किए जा सकते हैं। प्रति-प्रश्न भाषा के विकास के लिए उत्प्रेरक का काम करते हैं। ऐसे प्रश्न अपने कहे पर पुनर्विचार हेतु जरूरी वातावरण का सृजन करते हैं जिसमें शिक्षार्थी नए शब्द तथा नई अभिव्यक्तियां तलाशता है। इसी प्रकार की प्रक्रियाओं के प्रभाव के कारण सीखने वाले मशीनीकृत व्यवहार करते रहने से बच सकते हैं। इस प्रकार की प्रक्रियाओं में उनका इंसानीपन उभरकर सामने आएगा जो कि लोकतंत्र की एक विशेषता है।

भाषा शिक्षण के संदर्भ में शिक्षण प्रक्रिया तथा लोकतंत्र के विचार के मध्य सूत्र तलाशने हेतु अनेक बातों में से एक बात यह देखनी होगी कि भाषा की कक्षाओं का लोकतांत्रिकरण हो रहा है या नहीं। भाषा के लोकतांत्रिकरण को निम्नलिखित प्रश्नों के जवाब में खोजा जा सकता है :

प्र. 1 क्या भाषा की ताकत को समझने तथा उसका उपयोग करने के अवसर शिक्षार्थियों को उपलब्ध हैं ?

प्र. 2 क्या भाषा शिक्षण की प्रक्रिया में शिक्षार्थियों के जीवनानुभवों को जगह मिलती है ?

प्र. 3 क्या भाषा शिक्षण की प्रक्रिया शिक्षार्थियों को विभिन्न जीवनानुभवों को समझने का अवसर देती है ?

प्र. 4 क्या भाषा शिक्षण की प्रक्रिया वैकल्पिक जीवनानुभवों को सृजित करने का अवसर देती है ?

किसी भी योजनाबद्ध काम में उस काम से संबंधित मान्यताएं अन्तर्निहित होती हैं। भाषा के शिक्षण पर भी यह बात लागू होती है। भाषा के शिक्षण को भाषा तथा शिक्षण संबंधी मान्यताएं प्रभावित करती हैं। भाषा के संदर्भ में कुछ आम मान्यताएं हैं जिनका प्रभाव भाषा के शिक्षण में देखा जा सकता है। भाषा के संदर्भ में एक मान्यता के अनुसार व्याकरण ही भाषा है (द्विवेदी, 1998, पृष्ठ 20)। यानी व्याकरण भाषा का पर्याय है। यदि यह सही है तो किसी भी मौखिक या लिखित विषयवस्तु को समझने तथा मूल्यांकित करने हेतु व्याकरण की मदद लेना ही पर्याप्त होगा। मान लीजिए, दो व्यक्ति ग्रामीण इलाके से गुजरते हुए वहां की सड़कों को देखकर उस सफर के अनुभव पर दो प्रकार की अभिव्यक्तियां देते हैं। पहला कहता है कि, ''गांव की सड़कें कच्ची होती हैं।'' दूसरा कहता है कि, "गांव की सड़कें कच्ची बनाई जाती हैं।" व्याकरण को भाषा का पर्याय मानने वालों के लिए इनमें क्या फर्क है ? वे इनका मूल्यांकन व्याकरणिक तत्वों के आधार पर करेंगे। क्या वास्तव में इन दो अभिव्यक्तियों में व्याकरण के अलावा कुछ भी समझने लायक नहीं है ?

व्याकरण को भाषा का पर्याय मान लेने से भाषा में निहित अभिव्यक्ति की विविधताओं का अर्थ नहीं रह जाता। एक लेखक

तथा अन्य लेखक, एक विषय से अन्य विषय या एक ही लेखक की भिन्न कृतियों में अंतर करने लायक कुछ भी नहीं रह जाता। क्योंकि भाषा के इस प्रतिमान में तो संज्ञा, सर्वनाम आदि की व्यवस्था देखनी चाहिए। व्याकरणिक प्रतिमान में ढालने से भाषा एक तैयार माल की तरह होगी जिसका लोगों को उपयोग करना है (वोलोशिनोव, 2002, पृष्ठ 89)। इस प्रतिमान में सृजन की संभावना नहीं है। है भी तो विशिष्ट लोगों के पास हो सकती है जो व्याकरणिक नियमों में बदलाव को मान्यता दिलवा सकें। इस प्रतिमान में किया जाने वाला शिक्षण खास तरह की रणनीतियों से लैस होगा जो व्यक्ति की स्वतंत्रता की संभावना से रहित होगा।

किसी भाषा की व्याकरणिक व्यवस्था विशिष्ट हो सकती है जो उसे अन्य भाषा से भिन्न अस्तित्व प्रदान करे। उस भाषा की विशिष्टता को जानना-समझना उस भाषा को जानने का एक पैमाना है। लेकिन स्कूली भाषा शिक्षण के लिए व्याकरण को केन्द्र बना देना स्वयं उस भाषा की समृद्धि के लिए अच्छा नहीं है। किसी स्कूली शिक्षार्थी की भाषा की कॉपी का अवलोकन करना इस मुद्दे को समझने में मदद करेगा। शिक्षार्थियों की भाषा की कॉपी में शिक्षकों की टिप्पणियां सिर्फ व्याकरणिक तत्वों की ओर ध्यान दिलाती हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि स्कूली शिक्षा तथा शिक्षकों में यह मान्यता किस गहराई तक बैठी हुई है। व्याकरण को भाषा का पर्याय मान लेने से हमारे सामने दो दिक्कतें और आती हैं। पहली यह कि इस मान्यता के आधार पर कविता का सृजन एवं शिक्षण खतरे में पड़ जाएगा। दूसरी दिक्कत चॉमस्की की उस चुनौती के रूप में सामने आती है जिसके अनुसार ऐसे वाक्यों की रचना की जा सकती है जो व्याकरणिक दृष्टि से सही होने पर भी अर्थहीन हों।

भाषा के संदर्भ में एक अन्य मान्यता यह है कि भाषा संप्रेषण का साधन है। हिन्दी शिक्षण पर उपलब्ध अनेक पुस्तकें भाषा को इसी रूप में परिभाषित तथा व्याख्यायित करती हैं। यानी जो कुछ सुना जाता है उसकी अभिव्यक्ति करने वाला साधन भाषा है। यहां पर सवाल उठता है कि संप्रेषण किसका ? सुने और पढ़े का ? यदि ऐसा ही है तो भाषा के द्वारा वस्तुओं, घटनाओं एवं विचारों से जुड़ने, सोचने, देखे एवं सोचे के लिए वाचिक प्रस्तुति तैयार करने, वाचिक प्रस्तुतियों को श्रेणीबद्ध करने, विभिन्न श्रेणियों में मानसिक संवाद करवाने के माध्यम को भाषा की परिभाषा से या तो बाहर रखा जाएगा या उन्हें हाशिए पर ही जगह मिलेगी। क्या व्यक्ति भाषा का प्रयोग संप्रेषण से प्रारंभ करता है ? क्या संप्रेषण से पहले वह इसका उपयोग सोचने के लिए करता है ? क्या अनेक बार वह सोचने से पहले इसका उपयोग संसार से जुड़ने के लिए करता है ? संप्रेषण से पहले भाषा जुड़ने एवं सोचने के लिए उपयोग में लाई जाती है। संप्रेषण से भाषा की शुरुआत करना न तो संभव है और न ही अपेक्षित। संभव इसलिए नहीं है क्योंकि संप्रेषण हेतु आधार सामग्री होने पर ही संप्रेषण संभव होगा। बिना विषयवस्तु के क्या संप्रेषित होगा ? अपेक्षित इसलिए नहीं है क्योंकि ऐसा करने से व्यक्ति भाषा को साधने के अवसरों से वंचित रह जाता है। उस भाषा से जो उसे अन्य प्राणियों से भिन्न बनाती है। जिस काम को व्यक्ति प्राकृतिक रूप से करने में सक्षम हैं उस काम के लिए उसे अन्य का मोहताज बनाना एक ओर मनुष्य की प्रकृति के विरुद्ध जाना है तो दूसरी ओर यह लोकतांत्रिक विचार को तरजीह देने वाली शिक्षा के खिलाफ भी है।

इस मान्यता पर टिका शिक्षण रटवाने को महत्त्वपूर्ण मानेगा। उसमें ऐसे प्रश्न पूछे जाएंगे जिनमें शिक्षार्थियों की याददाश्त की परीक्षा ली जाए। ऐसे शिक्षण में शिक्षार्थियों को विचार प्रक्रिया में प्रवेश करवाने की चिंता नहीं की जाएगी। लोकतंत्र में स्वतंत्रता केन्द्रीय मूल्यों में से एक है। स्वतंत्रता का अर्थ है पतनकारी निर्भरता से मुक्ति (मेयर, पृष्ठ 85)। याद पर टिका शिक्षण शिक्षार्थियों को दूसरों की सोच पर निर्भर बनने की तरफ बढ़ाकर उनकी चिन्तन शक्ति को कमजोर करने का कारण बनता है। चिन्तन के लिए दूसरों पर निर्भर होना पतनकारी निर्भरता का एक उदाहरण है। ◆

संदर्भ

- द्विवेदी, हजारीप्रसाद, भाषा, साहित्य और देश, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1998।
- मेयर, थॉमस, सामाजिक लोकतंत्र, फीडरिक एबर्ट फाउंडेशन, नई दिल्ली।
- जीरू, हेनरी ए., टीचर्स एज इंटेलेक्चुअलस-टूवर्ड़ ए क्रिटीकल पेड़ॉगॉगी ऑफ लर्निंग, वर्जिन एवं गार्वे, लंदन, 1988।
- फ्रॉम, एरिक, द फीयर ऑफ फ्रीडम, रूटलेज, लंदन, 2001।
- रावत, बीरेन्द्र सिंह, भाषा शिक्षण का समाजशास्त्र, परिप्रेक्ष्य, वर्ष-13, अंक-1, अप्रैल, 2006, नीपा, नई-दिल्ली।
- वोलोशिनोव, वी. एन., मार्क्सवाद और भाषा का दर्शन, राजकमल, दिल्ली, 2002।